Research Paper IMPACT FACTOR VALUE : 6.247 | E-ISSN NO : 2455-295X | VOLUME : 12 | ISSUE : 8 | AUGUST 2026

संत काव्य की पृष्ठभूमि, अवदान तथा प्रासंगिकता

डॉ. शशि बेसरवारिया [1]

[1] सहायक आचार्य, हिन्दी एस.के.डी.एल. राज. कन्या महाविद्यालय, रतनगढ़ (चूरू).

ABSTRACT:

-

KEYWORDS:

-

PAPER ACCEPTED DATE:	PAPER PUBLISHED DATE:
31st July 2026	3rd August 2026
PAPER DOI NO:	**PAPER DOI LINK:**
10.5281/zenodo.21778007	https://zenodo.org/records/21778007

संत सम्प्रदाय के अभिज्ञान से पूर्व संतों की पृष्ठभूमि का परिचय परमावश्यक है। हिन्दी साहित्य का आदिकाल एक ऐसा विवादास्पद काल है जिसमें प्रथम कवि, काल सीमा, भाषा आदि के संदर्भ में इतिहासकारों में परस्पर मतभेद रहा है। इसीलिए ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने आदिकाल को 'अत्यधिक विरोधों एवं व्याघातों का युग' कहकर पुकारा है।

तत्कालीन प्राप्त सामग्री के आधार पर इतिहासकारों ने इस काल के अलग–अलग नाम तथा प्रथम कवि का नाम आदि सुझाए। तद्नुसार ही सर्वमान्य मत "आदिकाल" नामकरण को मान्यता प्रदान की गई।

हिन्दी साहित्य लेखन परम्परा में एक इतिहासकार हुए पं. राहुल सांकृत्यायन, जिन्होंने आदिकाल का नामकरण सिद्ध सामंतकाल किया। सिद्ध साहित्य के आधार पर उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल को सिद्ध सामंत काल कहा।

ये सिद्ध कौन थे? इस सम्बन्ध में भी विचार कर लेना आवश्यक है। सिद्ध परम्परा को बौद्ध धर्म की घोर विकृति मानना चाहिए। बुद्ध का निर्वाण 483 ई.पू. में हुआ। बुद्ध–निर्वाण के 45 वर्ष पश्चात् बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का खूब प्रचार हुआ। बौद्ध धर्म की विजय–दुन्दुभि देश तथा विदेशों में बजती रही। बौद्ध धर्म का उदय वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं हिंसा की प्रतिक्रिया रूप में हुआ। यह धर्म सहानुभूति और सदाचार के मूल तत्त्वों पर आधारित था। ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म महायान और हीनयान दो शाखाओं में विभाजित हुआ।[1]

इधर महायान वाले सबको निर्वाण तक पहुँचाने का दम भरते थे तथा उधर हीनयान वाले केवल सन्न्यासियों और विरक्तों को। "बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूर्वी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। उन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। बिहार के नालन्दा और विक्रम शिला नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ इनके अड्डे थे।"[2]

"वैसे तो गुप्त नरेशों के समय में बौद्ध धर्म को आघात पहुँच चुका था किन्तु 8वीं शती में कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य ने इसकी जड़ें तक हिला दी। बड़े आश्चर्य की बात थी कि भारत का धर्म भारत से निर्वासित हो गया। तिब्बत, नेपाल और बंगाल में इसे शरण मिली। अब यह धर्म शैव धर्म से प्रभावित हुआ और इसने जनता को अपने आश्रय में लाने के लिए तंत्र–मंत्र एवं अभिचार का आश्रय लिया। उत्तरी भारत में शंकर के मत के प्रचार से बौद्ध धर्म के लिए केवल दक्षिणी भारत में स्थान रह गया था। आन्ध्र नरेश से इन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन किला। श्री पर्वत सिद्धों का प्रधान था।"[3]

"सिद्धों में विशेष बात यह थी कि वे ईश्वरवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। इन्होंने गृहस्थ जीवन पर बल दिया। इसके लिए स्त्री का सेवन, संसार रूपी विषय से बचने के लिए या जीवन के स्वाभाविक भोगों में प्रवृत्ति के कारण सिद्ध साहित्य में भोग में निर्वाण की भावना मिलती है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास के कारण सिद्धों का सिद्धांत पक्ष सहज मार्ग कहलाया।"[4]

"सिद्ध प्रायः अशिक्षित और हीन जाति से सम्बन्ध रखते थे अतः उनकी साधना की साधनभूत मुद्राएं – कापाली, डोम्बी आदि नायिकाएं भी निम्न जाति की थीं क्योंकि उनके लिए ये ही सुलभ थी। इनकी सान्ध्य भाषा को उलझी हुई शब्दावली में उनके अधकचरे दार्शनिक होने का आभार भले ही मिल जाए किन्तु असल में वे दार्शनिक नहीं और न ही दर्शन की ऊँची वस्तु देना उनका उद्देश्य था। उन्होंने धर्म और अध्यात्म की आड़ में जनजीवन के साथ विडम्बना करते नारी का उपभोग किया। बस यही उनका चरम गन्तव्य था। उनके कमल और कुलिश योनि और शिश्न के प्रतीक मात्र हैं।"[5]

"वज्रयान की सहज साधना नाथ सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित हुई। जीवन को कर्मकाण्ड के जाल से मुक्त कर सहज रूप की ओर ले जाने का श्रेय नाथों को ही जाता है। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय को सिद्धों का विकसित तथा शक्तिशाली रूप कहना चाहिए। सिद्धों की विचारधारा को लेकर इस सम्प्रदाय ने उसमें नवीन विचारों की प्राण–प्रतिष्ठा की। उन्होंने निरीश्वरवादी शून्य को ईश्वरवादी शून्य बना दिया। नाथ सम्प्रदाय वज्रयान की परम्परा में शैवमत की क्रोड में पला। 14वीं शती तक इस सम्प्रदाय के साहित्य ने साहित्य और धर्म का शासन किया। इस प्रकार नाथ युग सिद्धयुग और संतों के बीच की कड़ी माना जा सकता है।"[6]

नाथ सम्प्रदाय ने सिद्ध सम्प्रदाय का नतमस्तक अनुसरण नहीं किया वरन् स्वतंत्र रूप से अपना विकास किया जबकि जमीन वही थी। तत्कालीन समाज को जिस दशा, दिशा और संस्कार की आवश्यकता थी उसने समाज को वही दिया इसी आधार पर समाज ने उनको ज्यादा महत्त्व दिया।

"कुछ विद्वानों का विश्वास है कि नाथ सम्प्रदाय का विकास पूर्ण स्वतंत्र रूप से हुआ – "यदि नाथ लोग सिद्धों के दिखाए हुए मार्ग को अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्त्व न मिलता – (पूर्ण गिरिस्वामी) किन्तु यह मत भ्रांतिपूर्ण है। संत लोगों ने भी तो नाथ लोगों के दिखाए हुए मार्ग को चुना तो क्या उनको महत्त्व नहीं मिला? वास्तविक बात तो यह है कि सिद्धों ने जिस पथ की ओर संकेत किया था संतों ने उसे राजमार्ग बनाया, पुरानी विचारधारा में नवीन पद्धति का समावेश किया। प्रत्येक धार्मिक विचारधारा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि युग की परिस्थितियों के अनुकूल उसमें संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ। बौद्ध धर्म और राग–साहित्य इस बात के साक्षी हैं। बौद्ध धर्म महायान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ। नाथ सम्प्रदाय पर कौल सम्प्रदाय का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। कौलों की अष्टांग योग की भावना को नाथों ने साधना के रूप में अपनाया। साथ–साथ नाथपंथी संतों ने कौलों की अभिचार प्रवृत्ति का तीव्रतम विरोध किया है।"[7]

नाथपंथ का दार्शनिक सिद्धांत शैवमत पर आधारित था तथा राजपूताना और पंजाब तक फैला हुआ था। नाथ पंथ में नौ नाथ ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए अतः नाथों की संख्या इतिहास में नौ ही मानी जाती है जिनमें गोरखनाथ का नाम अग्रणी है। गोरखनाथ सिद्धों के विरोध में स्पष्ट कहते हैं –

"चारि पहिर आलिंगन निद्रा, संसार जाई विषया दाही"

"गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय को जिस आंदोलन का रूप दिया वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ।" – डॉ. राजकुमार शर्मा

नाथों ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धांतों को जन भाषा में सबके सामने रखा इसलिए वो ग्राह्य बने।

"इसने परवर्ती संतों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी जिन संत साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है उन्हें बहुत कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी।" – आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

आगे आचार्य हजारी प्रसाद जी लिखते हैं, "इनकी सबसे बड़ी कमजोरी इसका रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर भाव है। इसी ने इस साहित्य को नीरस, लोक विद्वष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी यह दृढ़ कण्ठ स्वर उत्तरी भारत में मार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में सहायक हुआ। इस दृढ़ स्वर ने यहाँ धार्मिक साधना में गदलश्रु भावुकता और ढुलमुलेपन को आने नहीं दिया। परवर्ती हिन्दी साहित्य में चारित्रिक दृढ़ता, आचरण शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है उसका श्रेय इस साहित्य को ही है। इसलिए इस पंथ के साहित्य से परवर्ती हिन्दी साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं, "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"

यथा साहित्य का स्वरूप बदला। देश में मुगल सत्ता स्थापित हो चुकी थी। हिन्दू जनता के समक्ष उनके पूजा स्थल तोड़े जा रहे थे उनके पूज्य आराध्य की प्रतिमाएं खण्डित की जा रही थी लेकिन वे अपनी लाचारी पर कुढ़ने के सिवाय कर ही क्या सकते थे। अब कोई हिन्दू राज्य स्वतंत्र भी नहीं रह गया था क्योंकि दूर तक मुस्लिम सत्ता का विस्तार हो चुका था। आचार्य शुक्ल कहते हैं, "अपने पौरूष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था।"

इन राजनैतिक परिस्थितियों के साथ ही धार्मिक परिस्थितियां भी संत साहित्य को प्रभावित कर रही थी। कोई भी प्रवृत्ति किसी भी काल के समाप्त होने के दौरान पूर्णतः समाप्त नहीं हो जाती वरन् क्षीण धारा के रूप में अविरल प्रवाहित रहती है यह क्षीण धारा ही अनुकूल वातावरण मिलते ही अपना स्वरूप बदलकर प्रबल हो उठती है।

पूर्व मध्यकाल में "जिन समय मुसलमान भारत में आए उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था परिवर्तन के लिए बहुत बड़े धक्कों की आवश्यकता थी।" – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी आगे कहते हैं, "कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सम्भालने और लीन रखने के लिए दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दू जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए। प्रेमस्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियो ने – हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।"[8]

नाथ सम्प्रदाय में भी शास्त्रज्ञ विद्वान नहीं आते थे। इस सम्प्रदाय के कनफटे रमते योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल कमल, इला–पिंगला नाड़ियों इत्यादि की ओर संकेत करने वाली रहस्यमयी बानियां सुनाकर और करामात दिखाकर अपनी सिद्धाई की धाक सामान्य जनता पर जमाए हुए थे। वे लोगों को ऐसी–ऐसी बातें सुनाते आ रहे थे कि वेद–शास्त्र पढ़ने से क्या होता है, बाहरी पूजा अर्चना की विधियां व्यर्थ हैं, ईश्वर तो प्रत्येक घट के भीतर है, अन्तर्मुख साधनाओं से ही वह प्राप्त हो सकता है। हिन्दू–मुसलमान दोनों एक हैं, दोनों के लिए शुद्ध साधना का मार्ग भी एक ही है, जाति–पांति के भेद व्यर्थ खड़े किए गए हैं इत्यादि। कबीर के लिए नाथपंथी जोगी बहुत कुछ रास्ता निकाल चुके थे।"[9]

"इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सम्भाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया। उनका 'निर्गुण पंथ' चल निकला जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।"[10]

संत शब्द की व्युत्पत्ति की अगर हम चर्चा करें तो श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने संत शब्द की व्युत्पत्ति शांत शब्द से मानी है और इसका अर्थ निवृत्ति मार्ग या वैरागी किया है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी इस सम्बन्ध में लिखते हैं, "संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसके सत् रूपी परम तत्त्व को अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो, जो सन्त स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो वही संत है।"

आचार्य विनयमोहन के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से इसका अर्थ है जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन भाव को साध्य मानकर लोक मंगल की कामना करता है। इसी संदर्भ में डॉ. शिव कुमार शर्मा अपने विचार व्यक्त करते हैं कि संत शब्द सत् से बना है, जिसका अर्थ ईश्वरोन्मुख कोई भी सज्जन पुरुष हो सकता है। "संकुचित अर्थ में निर्गुणोपासकों को ही सन्त कह दिया जाता है जबकि सगुणोपासकों को भक्त। हिन्दी साहित्य में सन्त काव्य से, कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, जाम्भोजी आदि के काव्य का ग्रहण होता है जबकि सूर तुलसी आदि के साहित्य को भक्ति काव्य कहा जाता है।"[11]

संत काव्य की वाटिका आज जिस रूप में पल्लवित तथा पुष्पित है उस रूप में कई धर्म सम्प्रदाय के विचारों और दर्शन ने खाद की भूमिका निभाई है।

संत साहित्य पर सर्वप्रथम प्रभाव, सिद्ध और जैन साहित्य का पड़ा। सिद्ध साहित्य की अनेक प्रवृत्तियां संत साहित्य में विकसित हुई जैसे – बाह्य आडम्बरों, अंधविश्वासों, रूढ़ियों, जातिगत भेदभाव आदि का खण्डन, उलटबासियों तथा प्रतीकों का प्रयोग निजी अनुभूतियों की अभिव्यंजना, मुक्तक पद–शैली।

नाथ पंथ का तो साक्षात् विकास ही संत सम्प्रदाय के रूप में हुआ जाना जाता है। शिव की उपासना करना, जंत्र–मंत्र और योग क्रियाओं को अपनाना नाथ पंथ की ही देन थी। वैष्णव भक्ति से प्रभावित होकर संतों ने ईश्वर के नामों हरि, राम और गोविन्द को श्रद्धा भाव से अपनाया है। ये नाम संत कवियों के

निर्गुण निराकारी ईश्वर के रूप में आते हैं। संतों ने परमात्मा की कल्पना पति के रूप में की है तथा उनमें अहिंसा की प्रवृत्ति वैष्णवी भक्ति से आई है।

संत साहित्य पर इस्लाम के प्रभाव की बात करे तो, "कुछ विद्वानों ने संत काव्य की अनेक प्रवृत्तियों–निर्गुणोपासना वर्ण–व्यवस्था और मूर्ति–पूजा विरोध आदि को मुस्लिम प्रभाव बताया है किन्तु इन सब बातों का विकास भारतीय धर्म–साधना में इस्लाम के प्रचार से पूर्व हो चुका था, जिनका विवेचन हम अनेक सम्प्रदायों के प्रभाव के अंतर्गत कर चुके हैं। हाँ सन्त कवियों द्वारा हिन्दू–मुस्लिम एकता का प्रतिपादन अवश्य तत्कालीन परिस्थितिजन्य है।"[12]

डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त के शब्दों में, "संत मत के खण्डनात्मक पक्ष में इस्लाम का अस्तित्व है उसका मण्डनात्मक पक्ष तो हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के ही तत्त्वों से परिपूर्ण है। ईश्वर का गुणगान करते समय वे राम–गोविन्द–हरि का नाम लेते हैं, अल्लाह या खुदा का नहीं। संसार की असारता घोषित करते हुए वे अद्वैतवाद और माया की बातें करते हैं, मृत्यु के पश्चात् मिलने वाली बहिश्त और आखिरी कलाम की नहीं। विधि निषेधों की चर्चा करते हुए वे हिन्दू शास्त्र का आधार ग्रहण करते हैं कुरान का नहीं।"

उत्तरी भारत में प्रसारित होने से पूर्व महाराष्ट्र में संत सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि तैयार की जा चुकी थी। महाराष्ट्र में 12वीं–13वीं शताब्दी में श्री चक्रधर स्वामी द्वारा महानुभाव सम्प्रदाय की तथा संत ज्ञानेश्वर द्वारा वारकरी सम्प्रदाय की स्थापना की गई। महानुभाव सम्प्रदाय में ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को महत्त्व प्रदान किया जबकि वारकरी सम्प्रदाय में अद्वैतवाद, सगुणमत तथा भक्ति–भावना में समन्वय मिलता है। इसी पम्परा में नामदेव हुए। आगे चलकर नामदेव का सगुणवाद से विश्वास विच्छिन्न हुआ जब उन्होंने दक्षिण प्रांत में खिलजी को मूर्तियों को रौंदते देखा। भगवान के प्रति मिलन की इच्छा, प्रणय–निवेदन, अद्वैतदर्शन महाराष्ट्रीय कवियों में और हिन्दी कवियों में एक जैसी ही है किन्तु नामदेव की वाणी में मृदुता रही और कबीर की वाणी में परिस्थितिजन्य कर्कशता अधिक दिखाई देती है।

संत काव्य बौद्ध धर्म और उसके साहित्य से विकसित हुआ, सिद्धों की दुराचारी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया में नाथ सम्प्रदाय आया और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणामूलक तत्त्वों को लेकर संत मत अवतरित हुआ। स्वामी रामानन्द जी ने जात–पांत, ऊँच–नीच, छुआछूत जैसी निकृष्ट भावनाओं को अपनी भक्ति में स्थान नहीं दिया। 15वीं शताब्दी में अवतरित कबीरदास जी जिनको संतकाव्य धारा का प्रवर्तक माना जाता है तथा जो रामानन्द जी की शिष्य परम्परा में थे, ने भी कभी ऊँच–नीच, जाति–पांति, छुआछूत जैसी भावनाओं को अपनी भक्ति में शामिल नहीं किया। जनता की भाषा में जनता को ज्ञान प्रवचन कहते थे। सन्त कवियों ने निर्गुण ईश्वर में विश्वास किया, ईश्वर के सगुण रूप का विरोध किया अर्थात् मूर्तिपूजा का विरोध किया।

मध्यकालीन काव्यधारा में अपने अक्खड़पन, स्पष्टवादिता और खरेपन के कारण जो महत्त्व संत सम्प्रदाय के प्रवर्तक कबीर की रचनाओं का है वह अन्य किसी कवि और उसके काव्य का नहीं है। कबीर साहित्य का व्यापक और सशक्त अंश वही है जिसमें उन्होंने सामाजिक अन्याय और भेदभाव के विरुद्ध अपनी आवाज को बुलन्द किया है। उन्होंने समाज में व्याप्त उन सभी कर्मकाण्डों पर तीव्र प्रहार किया जो किसी भी तरह वर्णभेद और वर्गभेद को बढ़ावा देते थे, छुआछूत को बढ़ावा देते थे।

सर्वविदित है कि कबीर ने कभी भी कोई विधिवत शिक्षा प्राप्त नहीं की थी और न ही उन्हें छन्द शास्त्र का ही परिज्ञान था। उन्होंने तो स्वयं स्वीकार किया है–

"कागद मसि छुओ नहीं, कलम गही नहीं हाथि।"

कवि बनने के लिए न कोई डिग्री न छन्दशास्त्र का और न ही भाषा के ज्ञान की आवश्यकता थी बल्कि मन के उनके उद्‌गार इतने सशक्त और प्रगाढ़ थे कि काव्य के माध्यम से ज्यों के त्यों जनता के सामने रख दिया।

डॉ. श्यामसुंदर दास ने लिखा है, "कबीर छन्दशास्त्र के परिज्ञान से अनभिज्ञ थे, यहाँ तक कि वे अपने दोहों को पिंगल की खराद पर नहीं चढ़ा सके। डफली बजाकर गाने में जो शब्द जिस रूप में निकल गया वही ठीक था, मात्राओं के घट–बढ़ जाने की चिन्ता करना व्यर्थ था – इसके विपरीत कवि कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी, उन्हें जो कुछ संदेश देना था, उसके लिए शब्द और मात्राओं की गणना को उन्होंने आवश्यक नहीं समझा था। उन्हें तो कुछ इस तरह कहने की आवश्यकता थी कि सुनने वाले के दिल में उनकी बात घर कर जाए – जम कर बैठ जाए और यही उन्होंने अपने काव्य में किया।"

कबीर का काव्य एक तरह से उनके सिद्धांतों को प्रस्तुत करता है, उनके काव्यात्मक उत्कर्ष को नहीं। इसलिए आचार्य शुक्ल ने कहा है – "कविता करना कबीर का लक्ष्य नहीं था, फिर भी उनके काव्य में काव्यत्व की ऊँची चीज प्राप्त होती है।" कबीर के काव्य में जीवन को उदात्त और महान बनाने वाला संदेश अभिव्यक्त हुआ है।

प्रो. राजनाथ शर्मा के शब्दों में कहा जा सकता है, "एक दार्शनिक चिन्तक, शुद्ध भक्त या सफल कवि के रूप में कबीर का उतना महत्त्व नहीं, जितना कि अन्याय और भेदभाव का दृढ़ता से विरोध करने वाले एक क्रांतिकारी के रूप में है।"

- कबीर ने सामाजिक वैषम्य को दूर करने का प्रयास किया जो इससे पहले किसी ने नहीं किया। यह आज भी प्रासंगिक है।
- कबीर ने अनुभव व अनुभूति की सत्यता को समाज के सामने व्यक्त किया तथा जड़ और निष्क्रिय समाज को झकझोरा।
- सामाजिक चेतना लाने का जो प्रयास संत कवियों ने किया अन्य कवियों ने नहीं किया।
- साम्प्रदायिक सौहार्द्र को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जो कि आदिकाल में नहीं थी और आज भी प्रासंगिक है।
- संत सम्प्रदाय ऐसा सम्प्रदाय रहा जिसमें विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, जाति, वर्णों को नकार कर ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया जिसमें धर्म, सम्प्रदाय, ऊँच–नीच के भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। उनके समाज में न कोई हिन्दू है न मुसलमान है। सब मनुष्य है, कोई किसी से छोटा बड़ा नहीं है।

पीड़ित, शोषित, अपमानित जनमानस के दुःख से जितना सरोकार कबीर का व अन्य संतों का है उतना भक्तिकाल के किसी अन्य कवि का नहीं।

संत काव्य में सामाजिक विकृतियों का खण्डन, हिन्दू–मुस्लिम समन्वय का प्रयास, कुरीतियों का विरोध, जातिपांति का विरोध, आडम्बर का विरोध, और गुरु महत्त्व का प्रतिपादन किया गया जो आज भी प्रासंगिक है। विषम परिस्थिति में भी संत कवि सामाजिक परिस्थितियों के विपरीत खड़े थे। समाज को साहित्य के माध्यम से सचेत कर रहे थे।

साहित्य समाज के लिए प्रवाहमान अविरल ऊर्जा स्रोत है जो हमेशा और हर काल में एक समान प्रभावशाली रहता है। भक्तिकाल में गूंजी संतों की वाणी की अनुगूंज साहित्य के माध्यम से आज भी हम सब के कर्णपटल पर गुंजायमान है तथा उसके प्रभाव से हमारा मानस आज भी उत्साहित हो जाता है। इन्हीं संत कवियों के बीच एक महत्त्वपूर्ण नाम गुरु जम्भेश्वर जी का भी आता है जो साहित्य के महत्त्व और शक्ति को भरपूर आदर देते थे। तभी उन्होंने 29 नियमावली रचित कर बिश्नोई पंथ की स्थापना की।

जाम्भोजी का नाम पर्यावरण संरक्षक संत कवियों में शीर्ष स्थान पर माना जाता है। संत जम्भेश्वर जी त्रिकालदर्शी थे उन्हें 500 वर्ष पूर्व ही वर्तमान में पैदा हुई समस्याओं का आभास था इसलिए उन्होंने अपने धर्म–नियमों में ऐसी व्यवस्था की है कि वे हर युग में प्रासंगिक रहेंगे। संत जम्भेश्वर जी के सिद्धांत पूर्णतः वैज्ञानिक हैं, इसलिए वे कभी अप्रासंगिक नहीं हो सकते।

वर्तमान में जम्भाणी साहित्य अकादमी, बीकानेर पर्यावरण सम्बन्धी शिक्षाओं के प्रचार–प्रसार के माध्यम से आमजन में पर्यावरण के प्रति जागरूकता पैदा करने हेतु सतत् प्रयासरत है। तथा जम्भाणी साहित्य को संरक्षण प्रदान करती है। साथ ही पर्यावरण प्रदूषण से जूझते विश्व को एक नई दिशा और चेतना देने वाला उनका संदेश विश्व के लिए अनुकरणीय है।

"आज विश्व के समक्ष जो प्रमुख समस्याएं मुंहबाए खड़ी है उनमें से प्रमुख हैं – पर्यावरण प्रदूषण और धार्मिक असहिष्णुता। ये समस्याएं इतनी गम्भीर हैं कि पूरी सृष्टि व मानवता को महाविनाश की ओर धकेल रही है। इन समस्याओं का सबसे बड़ा कारण मनुष्य के विवेक का नाश होना है। मनुष्य के विवेक को जागृत करने का सबसे महत्त्वपूर्ण माध्यम साहित्य होता है। विश्व के श्रेष्ठ साहित्य में भारतीय साहित्य अपना उल्लेखनीय स्थान रखता है। भारतीय साहित्य की अपनी विशिष्टता का एक कारण इसमें भक्ति साहित्य का होना भी है।"[13]

और भक्तिकाल में संत साहित्य मुकुटमणि की भांति सुशोभित है। और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक भी है। आज आवश्यकता इस बात की है कि इस साहित्य का अधिक से अधिक प्रचार–प्रसार किया जाए। मानवता और कल्याण की भावना से भरे इस साहित्य का प्रचार–प्रसार मानवता की सेवा है। अपनी प्रासंगिकता के संदर्भ में संत साहित्य मानवता के उत्थान का साहित्य है।

REFERENCES

1. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियां, डॉ. शिव कुमार शर्मा, पृ. 41
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 5
3. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियां, डॉ. शिव कुमार शर्मा, पृ. 41
4. वही, पृ. 42
5. वही, पृ. 42
6. वही, पृ. 45
7. वही, पृ. 45
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 45
9. वही, पृ. 46
10. वही, पृ. 47
11. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियां, डॉ. शिव कुमार शर्मा, पृ. 130
12. वही, पृ. 143
13. आचार्य कृष्णानन्द, अध्यक्ष, जम्भाणी साहित्य अकादमी, वार्षिक प्रतिवेदन, 2017–18, आभार से